International Journal of Scientific Research in Science, Engineering and Technology (www.ijsrset.com)
© 2014 IJSRSET | Volume 1 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099

# स्मृतियों में वर्णित सम्पत्ति के विविध आयाम

**डॉ० संजीव कुमार**
**प्रशिक्षित स्नातक शिक्षक (संस्कृत)**
**शिक्षा निदेशालय, दिल्ली सरकार**

## सम्पत्ति की अवधारणा

**सारांश** – प्राचीन युग से ही धन ऐश्वर्य का पर्याय माना जाता रहा है। वेदों में धन की कामना के अनेक सूक्त प्राप्त होते हैं। धन को पुरूषार्थ चतुष्टय में अर्थ का पर्याय माना गया है। स्मृति ग्रन्थों में धन की अनेक प्रकार से शास्त्रीय वर्णन प्राप्त होता है।

**प्रमुख शब्द** – स्मृति, धन, चाणक्य, रयि, अर्थ, सम्पत्ति, दायभाग, वृत्ति, धनार्जन, आय, शिल्प, कर इत्यादि।

.

प्राचीन अर्थशास्त्र के प्रणेता आचार्य चाणक्य ने अपने सूत्र में धर्म का मानव जीवन के मूल तत्व बताया है और अर्थ को धर्म के मूल के रुप में स्थापित किया है।

**सुखस्य मूलम् धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।** (1)

यदि धर्म मानव जीवन को नियंत्रित करने का एक उपादान है तो 'अर्थ' जीवन को कार्यशील बनाने का एक सशक्त साधन है। समाज का उत्कर्ष आर्थिक जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर निर्भर करता है। व्यक्ति का भौतिक सुख उसके आर्थिक विकास से प्रभावित होता है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में धर्म के साथ ही अर्थ की महत्ता को भी विवेचित किया गया है।

प्राचीन काल से ही सम्पत्ति को ऐश्वर्य का पर्याय माना जाता रहा है। ऐश्वर्यशाली बनने के लिए अनेक प्रकार की सम्पत्ति की आवश्यकता वैदिक काल से ही महसूस की जाती रही है। वेद में कहा गया है कि हम धनों के स्वामी बनें।(2) वेद में धन को 'रयि' कहा गया है। 'रयि' शब्द सुवर्णादि एवं धन का वाचक है। धन स्वार्जित होना आवश्यक है, वही हमारा वैभव, ऐश्वर्य सुख, आर्थिक बल, पराक्रम एवं कल्याण का घोतक है

महाभारत में कहा गया है कि अर्थ के द्वारा धर्म, काम और मोक्ष प्राप्त किये जा सकते हैं। अर्थ–अर्थ को खींचता है तथा अर्थ के अभाव में यह लोक तथा परलोक दोनों ही कष्टदायक होते हैं।(3) अर्थहीनता को इस लोक में महापाप माना गया है।(4) मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, कौटिल्य आदि विचारकों ने भी धर्मशास्त्र के व्यवहार में अर्थशास्त्र की भी प्रतिष्ठा की है। कौटिल्य के मतानुसार धर्म एवं काम का मूलाधार अर्थ है।(5) कामन्दक ने भी अर्थ की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति अर्थ का इच्छुक है तथा उसके लिए प्रयत्नशील रहता है उसी का जन्म लेना सार्थक है।(6) याज्ञवल्क्य स्मृति' में कहा गया है कि अर्थशास्त्र तो मनुष्यों के बल को सम्बर्धित करता है।(7)

स्मृतियों में 'सम्पत्ति' का तात्पर्य मात्र चल एवं अचल धन से है जो आधुनिक अर्थशास्त्र से किञ्चित् भिन्न है। आधुनिक अर्थशास्त्र में सम्पत्ति की धारणा व्यापक है, जबकि स्मृतियाँ सम्पत्ति की व्याख्या, चल–अचल तक ही सीमित रखती है। इस प्रकार, हम यह देखते हैं कि वेदों से लेकर आधुनिक संस्कृत रचनाओं तक, सभी जगह सम्पत्ति की महत्ता को स्वीकार किया गया है। कहीं सम्पत्ति को ऐश्वर्य का पर्याय माना गया है, तो कहीं इसे मानव जीवन यापन के अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है।

**सम्पत्ति के विविध प्रकार**-सम्पत्ति विभाजन की प्रक्रिया के पूर्व ही यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि आखिर किस-किस प्रकार की सम्पत्ति का विभाजन किया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए सम्पत्ति के विविध प्रकारों का विवेचन आवश्यक है।

अधिसंख्य स्मृतियों में सम्पत्ति के दो प्रकारों का उल्लेख किया गया है। प्रथम, स्थावर-सम्पत्ति एवं द्वितीय जंगम-सम्पत्ति। स्थावर-सम्पत्ति से भूखण्ड एवं घर इत्यादि तथा जंगम से चल सम्पत्ति द्योतित है।

किन्तु याज्ञवल्क्य तथा कुछ अन्य स्मृतियों में सम्पत्ति के तीन प्रकारों की चर्चा की गई है।

दायभाग के प्रसंग में मनु ने भी दो ही प्रकार 'स्थावर' एवं 'जंगम' सम्पत्ति का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्रीय सन्दर्भ में आर्थिक वस्तुओं को सम्पत्ति कहा गया है। स्मृति-शास्त्र में सम्पत्ति से तात्पर्य रूपये पैसे का द्रव्य से नहीं बल्कि ऐसे वस्तुओं से है, जिनसे हमारी आवश्यकता की पूर्ति की क्षमता हो, जिनकी पूर्ति सीमित हो तथा जिन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयास करना पड़े।

प्राचीन भारतीय व्यवहार(कानून) के अनुसार सम्पत्ति को अग्रलिखित भेदों में विभक्त किया गया है।

(क) संयुक्तकुल-सम्पत्ति

(ख) पृथक सम्पत्ति।

संयुक्तकुल-सम्पत्ति या तो पैतृक होती है या पैतृकसम्पत्ति की सहायता या बिना उसकी सहायता के संयुक्त रूप में अर्जित होती है। या फिर अलग-अलग अर्जित करने पर पुन: संयुक्त कर ली जाती है। पैतृक सम्पत्ति को 'अप्रतिबन्ध-दाय' भी कहते है और यह वह है जिसे कोई पुरूष अपने पिता, पितामह, प्रपितामह से दाय रूप में प्राप्त करता है। मिताक्षरा सम्प्रदाय के अनुसार पाने वाले के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र जन्म से 'पृथकसम्पत्ति' में स्वार्जित सम्पत्ति भी सन्निहित है। यदि कोई व्यक्ति विभाजन द्वारा पैतृक सम्पत्ति से कोई अंश पाता है, तो ऐसा माना गया है कि वह उसकी 'पृथक्सम्पत्ति' कहलाएगी, जबकि, उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हों। किन्तु इनमें से यदि कोई हो तो वह उसके तथा उसके अन्य उत्तराधिकारियों के लिए 'पैतृकसम्पत्ति' कहलाएगी। दायभाग सम्प्रदाय के अन्तर्गत पुत्र जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार नहीं रखता, अत: 'पैतृकसम्पत्ति' एवं 'पृथक्सम्पत्ति' में कोई अन्तर नहीं है।

'मिताक्षरा' के अनुसार 'संयुक्तसम्पत्ति' का सदस्य होते हुए और उसमें अभिरूचि रखते हुए भी कोई व्यक्ति भाँति-भाँति के उपायों द्वारा अर्जित धनों से पृथक् सम्पत्ति रख सकता है। पृथक् सम्पत्ति के मुख्य प्रकार इस प्रकार है

(क) वह सम्पत्ति जो पिता, पितामह और प्रपितामह से न प्राप्त हो, अर्थात् वह जो भाई चाचा आदि से प्राप्त हो। (ख) वह जो पैतृक चल सम्पत्ति से स्नेहवश पिता द्वारा किसी भाग के रूप में दानस्वरूप या प्रसाद के रूप में प्राप्त हो। (ग) अपनी पृथक् सम्पत्ति से पिता द्वारा पुत्रों को दिया गया दान या प्रसाद या उसके द्वारा मरते समय जो कुछ दिया जाय। (घ) अन्य बन्धुओं एवं मित्रों द्वारा दिया गया दान या वह दान या भेंट जो विवाह के समय प्राप्त होती है। (ङ) वह सम्पत्ति जो कुल से निकल चुकी थी और किसी सदस्य द्वारा अपने प्रयासों से, संयुक्त सम्पत्ति की सहायता के बिना किसी दूसरे से प्राप्त की जाय। (च) वह सम्पत्ति जो स्वार्जित हो, विद्या एवं शान से प्राप्त की गयी हो। उपर्युक्त 'पृथकसम्पत्ति' के प्रकारों में स्मृतियों ने उन दोनों को स्पष्ट रूप से सन्निहित नहीं किया है जो संयुक्त कुल के किसी सदस्य को किसी अन्य व्यक्ति से मिलते हैं, केवल मित्रों से प्राप्त दानों या विवाह के समय प्राप्त उपहारों या मधुपर्क के समय किसी विद्वान् पुरोहत आदि को मिले दानों का उल्लेख हुआ है।

'पृथकसम्पत्ति' के विषय की धारणा धीरे-धीरे मन्द गति से उदित हुई है। आरम्भ में किसी सदस्यों द्वारा उपर्जित धन पूरे कुल की सम्पत्ति मानी जाती थी। मनु की व्याख्या में शबर, मेधातिथि, दायभाग आदि ने लिखा है कि उपार्जनकर्ता, चाहे वह पुत्र हो या पत्नी, को स्वार्जित धन स्वतंत्र रूप से व्यय करने का अधिकार नहीं है, यद्यपि वह उस धन पर स्वामित्व रखता है।

'मनुस्मृति' एवं एवं 'विष्णुस्मृति' के अनुसार संयुक्त परिवार का सदस्य रहते हुए कोई भाई आदि जो कुछ अपने परिश्रम से बिना कुल सम्पत्ति को हानि पहुँचाये कमाता है, यदि वह न चाहे तो, उसे अन्य को न दें, क्योंकि वह प्राप्ति उसकी ही क्रियाशीलता द्वारा हुई है। मनुस्मृति में विद्याधन के अतिरिक्त मित्रदान, विवाहदान, एवं मधुपर्क के समय प्राप्त दान को किसी व्यक्ति की 'पृथक् सम्पत्ति' के रूप में ग्रहण किया है।[8] याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी है कि जो कुछ कोई बिना 'संयुक्त सम्पत्ति' की हानि के प्राप्त करता है, स्त्रियों से दान के रुप में या विवाह में उपहार के रूप में पाता है, वह अन्य सहभागियों में विभाजित नहीं होता है। इसी प्रकार नष्ट हुई पैतृक सम्पत्ति को अपने परिश्रम से फिर से प्राप्त करता है, उसे भी विभाजन के समय अन्य लोग पाने के योग्य नहीं माने जाते हैं। यदि नष्ट हुई सम्पत्ति 'पैतृकसम्पत्ति' की सहायता से पुन: प्राप्त की गयी या यदि कोई पैतृक सम्पत्ति की सहायता से विद्यार्जन करके विद्याधन प्राप्त करता है तो इस प्रकार के धन अन्य सदस्यों में भी विभाजित होते हैं। किन्तु, मिताक्षरा की इस व्याख्या को दायभाग, दीपकलिका, विश्वरूप, व्यवहार-प्रकाश, एवं अपरार्क ने नहीं स्वीकार किया है।

यदि किसी विशेष आपत्तियों के कारण कुल सम्पत्ति नष्ट हो गयी है और किसी सदस्य ने अपने प्रयास से उसे पुन: ग्रहण किया है, तो इस सन्दर्भ में मनु, विष्णु, कात्यायन एवं बृहस्पति ने एक विशिष्ट नियम यह दिया है कि पिता यदि अपने प्रयास से सम्पत्ति ग्रहण करता है तो उसे सम्पूर्ण रूप से स्वार्जित सम्पत्ति की तरह रख लेता।

'विद्याधन' को आरंभिक काल में ही मान्यता प्राप्त हो गयी थी, किन्तु तब से अब तक इसमें बहुत परिर्वतन हो गया है। इस विषय में गौतम का मत है कि सभी सदस्य यदि पढ़े-लिखे न हो तो कृषि के द्वारा जो कुछ उपार्जित होता है उसमें सबका बराबर-बराबर भाग होता है। किन्तु यदि कोई विद्वान सदस्य अपनी विद्या से कुछ अर्जित करता है, तो यदि वह चाहे तो उसे अन्य अविद्वान भाईयों में नहीं बाँट सकता है। मनु, यावल्क्य, नारद, कात्यायन एवं व्यास ने विद्याधन को सामान्यत: विभाजन के समय विभाजित करने योग्य नहीं ठहराया है।

कात्यायन ने विद्याधन को विश्लेषित करते हुए लिखा है कि वही धन विद्याधन है, जो दूसरों के यहाँ खा-पीकर किसी अन्य से विद्या प्राप्त करने के उपरानत उसके उपयोग से प्राप्त होता है, जो किसी मामले को सुलझाने के कारण अपनी विद्या से प्राप्त हो वही विद्याधन है, और उसका विभाजन नहीं होता है। जो धन शिष्यों से प्राप्त होता है, जो पौरोहित्य कर्म करने से प्राप्त होता है, जो प्रश्न करने तथा सन्देह दूर करने से प्राप्त होता है, वह सब विद्याधन की संज्ञा पाता है और विभाजन के समय बाँटा नहीं जाता है। विद्या बल यज्ञमान कार्य एवं शिष्यों से जो कुछ प्राप्त होता है वह विद्याधन घोषित होता है। इसप्रकार की प्राप्ति के अतिरिक्त जो धन प्राप्त होता है, वह सामान्यत: संयुक्त रूप में सब सदस्यों का होता है।

**अविभाज्य सम्पत्ति-** सम्पत्ति के कुछ ऐसे प्रकार भी है, जिनका विभाजन नहीं होता है, इन्हें अविभाज्य सम्पत्ति कहते हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति का उपयोग संयुक्त रूप से होता है। कात्यायन के अनुसार वैसे विद्याधन जो दूसरे के यहाँ रहकर किसी अन्य से विद्या प्राप्त करने के बाद उसके उपयोग से प्राप्त होता है या जो किसी मामले को सुलझाने के कारण अपनी विद्या से प्राप्त होता है, उसका बँटवारा नहीं होता है। जो धन शिष्य से मिलता है, जो किसी यज्ञ में पुरोहित का कार्य करने से प्राप्त होता है, जो किसी सन्देह को दूर करने से प्राप्त होता है, जो अपने ज्ञान से मिलता है, यह सब विद्याधन के अन्तर्गत माना गया है और इनका विभाजन के समय बँटवारा नहीं होता।

नारद ने शौर्यधन को 'अविभाज्यसम्पत्ति' माना है। इस शौर्यधन में कात्यायन द्वारा स्वीकृत शौर्यधन (वह धन जो राजा या मालिक के द्वारा किसी सैनिक या नौकर को शूरता प्रदर्शित करने पर दिया जाता) एवं ध्वजाहृत (जो धन प्राणों की बाजी लगाकर तथा शत्रु को भगा कर प्राप्त किया जाता है) अविभाजय धन है।[9] कन्याधन को भी अविभाज्य माना गया है। कन्या धन को कात्यायन, नारद और वृहस्पति ने दो भागों में बाँटा है -

**क) कन्यागत** - जो अपनी जाति की कन्या से विवाह करते समय प्राप्त होता है।

**ख) वैवाहिक** - वह धन जो पत्नी के साथ आता है। मनु और याज्ञवल्क्य ने इसे औद्वाहिक कहा है।

मनु ने वस्त्र, वाहन, आभूषण, पके भोजन, जल कूप आदि सार्वजनिक स्थान, स्त्रियाँ (दासियाँ), मन्त्री, पुरोहित, योगक्षेम-साधक मार्ग आदि को अविभाजय माना गया है। विष्णु ने पुस्तकों को भी अविभाज्य माना है। वस्त्रों के विषय में कहा गया है कि वह बहुमूल्य और नये न हों तो उनका विभाजन नहीं होता। यही बात वाहनों एवं अलंकारों के विषय में भी है। मनु और विष्णु द्वारा प्रयुक्त श्लोकों में 'उदक' शब्द से कूप तड़ाग आदि अर्थ लिया गया है। कूप आदि का प्रयोग बारी-बारी से करना चाहिए। उनका विभाजन नहीं करना चाहिए। स्त्रियों की व्याख्या में नौकरानी आदि का भाव लिया गया है। यदि नौकरानी एक ही हो तो उससे बारी-बारी से काम लेना चाहिए। यदि कई हों तो बंटवारा हो सकता है।

**योगक्षेम का अर्थ है** - योग(अप्राप्त धन की प्राप्ति) एवं क्षेम(प्राप्त धन की सुरक्षा)। मिताक्षरा के अनुसार योगक्षेम का अर्थ है-श्रौत एवं स्मार्त अग्नि में किए गए यज्ञ आदि कर्म तथा दान-दक्षिणा से सम्बद्ध कर्म। जैसे-कूप, तालाब आदि का निर्माण। स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार योगक्षेम का अर्थ है - वह धन जो किसी विद्वान् ब्राह्मण को किसी धनी व्यक्ति के यहाँ रहने से जीविका के रूप में प्राप्त होता है। [10]

गौतम के अनुसार योगक्षेम का अर्थ है - आजीविका के सरल एवं सुखद मार्ग। विष्णु का कथन है कि योगक्षेम के लिए राजा के पास जाए। मिताक्षरा के अनुसार पिता की मृत्यु के उपरान्त पिता द्वारा प्रयुक्त होने वाले वस्त्र, अलंकार, वाहन आदि श्राद्ध के समय आमन्त्रिक ब्राह्मण को देने चाहिए। मनु के अनुसार पिता अपनी असामर्थ्य के कारण अपेक्षित जिस पैतृक धन को नहीं प्राप्त कर सका है, उस पितामह के धन को यदि पुत्र अपने पुरूषार्थ से प्राप्त कर ले और वह दूसरे भाइयों को नहीं देना चाहता है तो न दे। मनु के अनुसार पुन: सम्मिलित किए गए धन का विभाजन नहीं होता है। मनु का कथन है कि पहले कभी अलग हुए भाई पुन: सम्मिलित होकर एक साथ रहने लगें और फिर कभी अलग होना चाहें तो उस समय भाइयों का समान भाग होता है। बड़े भाई को अतिरिक्त धन नहीं मिलता

है। मनु का कथन है कि स्त्रियों के आभूषणों का विभाजन नहीं होता है। पति के जीवित रहने पर स्त्रियाँ जिन आभूषणों को पहनती हैं, उनको भाई आदि सम्बन्धी नहीं ले सकते हैं।

**सम्पत्ति अर्जन के साधन**

**वृत्ति का स्वरूप** – स्मृतियों में सम्पत्ति अर्जन के साधनों एवं वृत्तियों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन नहीं हुआ है। वर्णों के कर्तव्य, वर्णसंकर जातियों के कर्तव्य एवं प्रायश्चित्त आदि के प्रकरणों में विभिन्न वृत्तियों का उल्लेख मिलता है। मनु ने 'वृत्ति' के लिए 'जीवनहेतव:' शब्द दिया है, अर्थात् जिन कार्यों को करने से मनुष्य की आजीविका चलती है, वे जीवनहेतु हैं। इनको जीवन निर्वाह के साधन भी कह सकते हैं।(11) मनु, नारदीय मनुस्मृति, बुधस्मृति एवं वृहस्पति आदि स्मृतियों में भी वृत्ति शब्द का सविस्तार प्रयोग हुआ है। वृहस्पति और नारदीय मनु का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि धन से ही जीवन की सारी क्रियाएँ चलती हैं, इसलिए धन के लिए सभी प्रकार के साधन एकत्रित करने चाहिए। ये साधन तीन प्रकार के हैं

(क) धन की प्राप्ति और उसको बढ़ाना

(ख) प्राप्त धन की रक्षा

(ग) प्राप्त धन का उपयोग।(12)

**धनार्जन शुद्ध उपायों से** – बृहस्पति का कथन है कि शुद्ध उपयों से ही धनार्जन करना चाहिए। यदि मनुष्य अनुचित साधनों से धन–संग्रह करता है तो उसे घोर विपत्तियाँ प्राप्त होती है। बुध स्मृति का मत है कि सच्चाई और न्याय से प्राप्त हुए धन से ही अपने निर्धारित कर्मों को करे। शंख स्मृति का कथन है कि मनुष्य अपनी वृत्ति अर्थात् जन्मसिद्ध व्यवसाय को न छोड़े।

धन की तीन भेद – बृहस्पति और नारदीय में कामों की श्रेष्ठता और निकृष्टता के आधार पर धन की तीन भेद बताए गए हैं – (क) शुल्क (श्वेत), (ख) स्वशवल (भूरा),(ग) कृष्ण(काला)। विद्या, पुरूषार्थ, तपस्या, शिष्य, यज्ञ, वंशपरंपरा और कन्या से प्राप्त, यह सात प्रकार का धन शुक्ल या श्वेत धन कहा जाता है और उत्तम कार्यों में इसके उपयोग से अभिवृद्धि होती है। व्याज, कृषि, वाणिज्य, शुल्क, शिल्प और उपकृत व्यक्ति से प्राप्त धन का शबल धन कहा गया है। इसी प्रकार दूत, दूतकार्य, रोगी, दु:साहसी या अन्यायी तथा व्याज से मिले हुए धन को कृष्ण धन कहा गया है।(13) इन समस्त धनों का निजी एवं अन्य कार्यों में उपयोग होता है। पूर्वोक्त धनों का क्रय, विक्रय, दान और ग्रहण(दान लेना) इन चार कार्यों में उपयोग होता है। बृहस्पति और नारद का कथन है कि श्वेत, शबल और कृष्ण, इन तीन प्रकार के धनों में से जिस धन का जिस प्रकार से उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार का लाभ उनसे प्राप्त हाता है। (14)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये तीन प्रकार के व्यवसाय हैं। साधन–भेद से धन–भेद हो जाता है। उत्तम उपायों से प्राप्त किया गया धन उत्तम होता है, अत: उसे श्वेत धन कहा गया है। यह स्थायी होता है। मध्यम प्रकार के उपायों से प्राप्त किया धन मध्यम कोटि का होता है। उसका फल भी मध्यम होता है, अत: उसे शबल कहा गया है। यह अल्पस्थायी है। निम्न स्तर के उपायों से किया गया धन–संग्रह निम्न कोटि का होता है। ये धन जिस प्रकार के कार्यों में लगाए जाते हैं, उसी प्रकार का फल देते हैं। बृहस्पति नारद और बुध ने न्यायोचित मार्ग से एकत्रित किए धन को ही महत्त्व दिया है।

**वृत्तियों के भेद** – मनु ने जीवन निर्वाह के लिए 10 वृत्तियों का उल्लेख किया है 1. विद्या ii. शिल्प iii. भृति iv. सेवा v. गोरक्षण vi. व्यापार, vii. कृषि, viii. धैर्य ix. भिक्षा मांगना, x. सूद

विविध वृत्तियाँ (व्यवसाय)– मनु, नारद, बृहस्पति, बुध एवं शंख आदि स्मृतियों में विविध प्रसंगों में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख भी किया है।

**स्त्रियों की वृत्तियाँ एवं शिल्प**-स्त्रियों की वृत्तियों एवं शिल्प के विषय में स्मृतियों में विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता है। 'पराशरस्मृति' में चार प्रकार के व्यवसाय करने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया गया है, जिनसे उनके व्यासाय का पता चलता है। ये हैं(15) – (क) रजकी(धोबिन),(ख) चर्मकारी(चमड़े का काम करने वाली),(ग) लुब्धकी(पक्षिों आदि को मारने वाली),(घ) वेणुजीविनी(बाँस की टोकरी आदि बनाने वाली)

बृहत्परशर और बृहस्पति ने दासी (सेविका) का भी उल्लेख किया है।

स्मृतियों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि स्मृतियाँ वर्ण–व्यवस्था पर आधारित हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र – चारों वर्णो के कार्य निर्धारित हैं। सभी वर्गों को अपने वर्ण–मर्यादा के अन्तर्गत कार्य करना धर्म–सम्मत माना गया है।

बृहस्पति ने अचल सम्पत्ति करने के सात स्रोत बताए है(16)

(क) विद्याधन

(ख) क्रय

(ग) बंधक

(घ) पराक्रम

(ड) पत्नी के दहेज से प्राप्त

(च) वंशनुगत से प्राप्त(पैतृक)

(छ) दाय प्राप्ति से(नि:संतान संबंधियों से)

उपर्युक्त सात विधि से वैध सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा बृहस्पति का विचार है।[17]

न्यूनाधिक रूप में नारद ऋषि मनु के विचारों का समर्थन करते हैं, जिसका उल्लेख आवश्यक है। नारद के अनुसार सम्पत्ति के स्रोत निम्न हैं –

(क) लब्ध (जन्मना प्राप्त होने वाली पैतृक सम्पत्ति अथवा अकस्मात् प्राप्त होने वाली निधि आदि)

(ख) दान

(ग) क्रय

(घ) शौर्य से प्राप्त धन

(ङ) विवाह में प्राप्त होने वाला धन

(च) नि: संतान बंधु से आने वाली सम्पत्ति।

प्राय: सभी स्मृतिकारों ने वर्ण–व्यवस्था के अनुसार विभिन्न वर्णो द्वारा सम्पत्ति अर्जन करने के साधन निर्धारित किये है। मनु ने कहा है कि वेद पढ़ाना, वेद पढ़ना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और दान देना ब्राह्मणों के विहित कर्म है। ब्राह्मणों को षट्कर्मो से प्राप्त सम्पत्ति धार्मिक है। उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के विहित कर्मो से प्राप्त धन धर्मयुक्त है।

आपत्काल में अनन्तर वृत्ति की अनुशंसा विष्णु ने की है। नारद आपत्काल में वर्णेतर जीविका से सम्पत्ति प्राप्त करने की अनुशंसा तो अवश्य की है लेकिन किसी भी हालत में शूद्र वर्ण का पेशा ब्राह्मण के लिए स्वीकार्य नहीं। नारद का कथन है कि आपत्काल में ब्राह्मण अपनी जीविका उस विधि से प्राप्त कर सकता है जैसा कि क्षत्रिय या वैश्यों की तरह कतिपय व्यवसायों को छोड़ कर। इसप्रकार, सम्पत्ति प्राप्त करने के क्षेत्र तीन सवर्णो को प्राप्त हैं और शूद्र को सम्पत्ति अर्जन के कम अवसर हैं। निश्चित रूप से इसका भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

विविध वर्गों के कर्म गीता में भी बताए गये हैं, जो उनके स्वभाव एवं गुण के आधार पर हैं। शांति, इन्द्रिय दमन, तपस्या, शौच, तथा ज्ञान–विज्ञान का अर्जन आदि ब्राह्मणों के स्वभाविक कर्म हैं तो वीरता, तेजस्विता, युद्ध में शौर्य प्रदर्शन तथा दान आदि कर्म क्षत्रियों के लिए विहित हैं। वैश्यों के लिए कृषि, गोपालन और व्यापार ये तीन स्वाभाविक कर्म निर्धारित हैं तथा शूद्रों के स्वभाविक कर्म के रूप में सेवावृत्ति निर्धारित हैं। इस संदर्भ में गीता में कहा गया है

**शमो दमस्तप: शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ॥**

**ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥**[18]

**शौर्य तेजो धृतिक्ष्यि युद्धे चात्यपलायनम्।**

**दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥**[19]

**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।**

**परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥**[20]

स्मृतिकारों के प्रावधान बहुत कड़े रूप में प्राचीन समय में अनुपालित हुए हों इसका कोई ठोस संकेत नहीं प्राप्त होता। लेकिन नारद के द्वारा कथित तीन प्रकार की सम्पत्ति यथा शुक्ल(सफेद) धन, शबल(दागदार) धन और कृष्ण(काला) धन की चर्चा से एक रहस्योद्घाटन होता है कि समाज में कालाधन भी प्रचलित था। सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए लोग येन–केन प्रकारेण हथकण्डों को अपनाते और वेदों के वचन के अनुचार 'वयम् स्याम पतयो रयीनाम्' अर्थात् बहुत धनों के मालिक बन जाना चाहते थे।

काला–धन की चर्चा करते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि उत्कोच(घूस), जुआ, संवाद भेजने से प्राप्त राशि, पीड़ा देकर प्राप्त धन, धोखाधड़ी से प्राप्त लूट का धन तथा नकल इत्यादि करके जो धन प्राप्त होता है वह काला धन है।

सफेद धन की चर्चा करते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि पवित्र ज्ञान से प्राप्त, शौर्य, संयम, शिक्षा दान से प्राप्त, यजन–याजन एवं उत्तराधिकार में प्राप्त धन है।

**राजकीय आय-** राज्य का शासन और संचालन कोष के बिना सम्भव नहीं है। धन के बिना राज्य के छोटे से छोटे कार्य भी नहीं किये जा सकते। राजकीय कार्यों के लिये प्रचुर धन की आवश्यकता होती है। इस धन का संग्रह और प्राप्ति राज्य के हित में सहायक होती है।

राजकोष का संचय राजकीय आय द्वारा होता है। यही कारण है कि भारतीय धर्मशास्त्र में राज्य के जिन सात अंगों या प्रकृतियों का वर्णन है, उनमें कोष का बहुत महत्व है। राजा का कर्तव्य है कि राजकोष में निरन्तर वृद्धि करता रहे। कौटिल्य ने राज्य के सभी कार्यो का मूल कोष को कहा तथा उसमें वृद्धि का उपदेश दिया। (21)

**राजकीय आय की व्यवस्था-** राजकोष के लिये आय के साधनों को जुटाना आवश्यक है। इन साधनों के सम्बन्ध में प्राचीन स्मृतिकारों ने विशेष सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। राजा के अनेक कार्य है प्रजा की रक्षा, प्रजाहितकारी कार्य का सम्पादन, राजकीय कर्मचारियों का वेतन देने की व्यवस्था, सेना की व्यवस्था, दान, धार्मिक कार्य। इन सब कार्यों के लिए प्रजा से राजा को धन प्राप्त करने का अधिकार है।

शासन के प्रारम्भिक युग में राजा का निर्वाचन होने पर प्रजा ने अपनी आय का एक अंश राज्यहित में देने की प्रतिज्ञा की। वैदिक युग में यह भाग बलि कहलाता था। यह बलि राजा को करों और उपहारों के रूप में प्राप्त होती थी। पूर्व वैदिक युग में प्रजा के लिय बलि देना अनिवार्य नहीं था। यह प्रजा की स्वेच्छा पर निर्भर था। कालान्तर में यह बलि अनिवार्य हो गई। राजा के अधिकारियों में भागधुक, और समाहर्ता की नियुक्ति होने लगी। इनका कार्य था कि वे प्रजा से बलि एकत्रित करें। बलि विशेष रूप से किसानों और पशुपालकों से ली जाती थी। महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, शुक्रनीति, विष्णुस्मृति आदि ग्रन्थों में कर निर्धारण के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश है प्राप्त होते। इसप्रकार राजकीय आय के लिये शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष व्यवस्थाओं का आयोजन किया गया। राजा को यह आय नियमित रूप से बलि, शुल्क कर दण्ड और अतिरिक्त करों के रूप में प्राप्त होने लगी।

महाभारत युग में और उसके बाद सूत्र ग्रन्थों और स्मृतियों के युग में राजकीय आय के विभिन्न साधनों का वर्गीकरण करके करों को निर्धारित करने के विशेष सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे। इस कार्य के लिये विशेष राजकीय अधिकारियों को नियुक्त करने के भी निर्देश दिये गये थे। कृषि, व्यापार, पशु, शिल्प, आकर आदि विभिन्न स्त्रोतों से कर लिया जाता था।

**कर-निर्धारण के सिद्धान्त-** राजकीय आय के लिये शास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष व्यवस्थाओं का आयोजन किया गया। राजा को यह आय नियमित रूप से बलि, शुल्क कर दण्ड और अतिरिक्त करों के रूप में प्राप्त होती थी। जिसके लिए विविध प्रकार के कर निर्धारण की व्यवस्था स्मृतियों में की गई है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने करों को निर्धारित करने के सिद्धान्त इस प्रकार बनाये थे कि राजकीय आय में वृद्धि तो हो, परन्तु प्रजा को कर देने का कष्ट कम से कम हो। इस सन्दर्भ में कौटिल्य का अग्रलिखित मत अत्यनत ही सारगर्भित प्रतीत होता है

**पक्वापक्वमिवारात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।**
**आत्मच्छेदभयादाम वर्जयेत् कोपकारकम् ॥**(22)

प्राचीन काल में प्रचलित कर-संचय के सिद्धान्तों का वर्गीकरण अग्रलिखित है

**शनैः शनैः कर लेना -** राजा को प्रजा से शनैः शनैः अर्थात् थोड़ा-थोड़ा करके कर लेना चाहिये। कर का निर्धारण प्रजा की सामर्थ्य के अनुसार ही किया जाना चाहिये।

**कर की मात्रा का स्वल्प होना -** कर की मात्रा इस प्रकार निर्धारित होनी चाहिये कि कृषक, व्यापारी, पशुपालक आदि कर को अपने उपर भार न समझे और यह अनुभव करें कि कर देना उनके अपने हित में है। कर निर्धारित करने का सिद्धान्त यह है कि किसी भी व्यवसाय के लाभ पर ही कर लगाया जाय, पूँजी पर नहीं। महर्षि मनु का कथन है कि प्रजा पर कर इस मात्रा में लगे कि वह प्रजा के लिये पीडादयक न हो। जिस प्रकार गाय का बछड़ा दूध आदि का पान करता है और गाय कष्ट का अनुभव न करके आनन्द का ही अनुभव करती है, कर की स्थिति उसी प्रकार की होनी चाहिये।

**प्रजा की रक्षा करना -** प्रजा की रक्षा करने के कारण ही राजा उससे कर ग्रहण करता है। जो राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, उसको कर लेने का भी अधिकार नहीं है। प्रजा की रक्षा न करके जो राजा प्रजा से करों के निमित्त धन को एकत्रित करता है, वह नरकगामी होता है और प्रजा के सम्पूर्ण पापों का वहन करने वाला होता है।

**लाभ पर ही कर तथा एक ही बार कर -** व्यापार और उद्योग पर कर की मात्रा क्रय-विक्रय के मूल्य, मार्ग की आपतियो आदि का विचार करके, उसके लाभ पर निर्धारित की जानी चाहिये।(23) किसी भी वस्तु पर कर को एक ही बार लगाना चाहिये, बार-बार

नहीं।[24] मनु ने यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया था कि व्यवसाय सम्बन्धी आय और मूल धन एकत्रित करने सम्बन्धी व्यय करमुक्त होने चाहिये।

**करों की मात्रा में शनैः शनैः वृद्धि करना** - करों की मात्रा में यदि वृद्धि करने की आवश्यकता हो तो यह वृद्धि शनैः शनैः की जानी चाहिये। कर की दरों में अचानक एक दम वृद्धि नहीं करनी चाहिये। करों की वृद्धि इस प्रकार हो कि करदाता को अधिक बोझ प्रतीत न हो। करों में अचानक अधिक वृद्धि करने पर प्रजा में असन्तोष बढ़ता है। परिणामतः विद्रोह की स्थिति आ सकती है। आपत्ति काल में धन की अधिक आवश्यकता होने पर मधुर और युक्तियुक्त वचनों द्वारा जनमत बना कर प्रजा को विश्वास में लेना चाहिये, जिससे कि प्रजा स्वयं ही प्रसन्नता से अधिक कर देने के लिये तैयार हो जाए।

राष्ट्रीय विपत्तियों के अवसरों पर अतिरिक्त कर लगाने की आवश्यकता होती है। इसके लिए प्रजा को विश्वास में लेना चाहिये। राष्ट्र की समृद्धि के लिये राष्ट्रीय योजनाओं में भी समुचित धन की आवश्यकता होती है। इनके लिये राजा अतिरिक्त कर लगा सकता है। परन्तु ये सब योजनायें प्रजा के लिए कल्याणकारी होनी चाहिये।

इसप्रकार, हम यह पाते हैं कि ऋग्वैदिक काल से ही सम्पत्ति की अवधारणा प्रस्फुटित होने लगी थी, जो कि स्मृति-काल के आते-आते पूर्णतः पल्लवित एवं पुष्पित हो चुका था। यही कारण है कि प्रायः सभी स्मृतिकारों ने अपनी रचनाओं में सम्पत्ति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसके बहुविध प्रकारों का उल्लेख किया है। इसके साथ ही सम्पत्ति अर्जन के विविध उपायों की भी विशद् व्याख्या स्मृति-ग्रंथों में की गयी है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ : -**


1. अर्थशास्त्रम् 2
2. यजुर्वेद - अध्याय 4, मन्त्र - 16
3. महाभारत शान्ति॰ 8-22
4. महाभारत शान्ति॰ 8-14
5. अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्याः। अर्थमूलो हि धर्मकामौ इति।
6. कामन्दकीय नीति॰ 2-62
7. याज्ञ। 2-21
8. मनुस्मृति 9-208
9. ना॰ मनु॰ 13.6
10. स्मृ॰ च 2 पृ॰ -277
11. मनु॰ 10.116
12. ना॰ मनु॰ 1.39
13. बृ॰ 7.2-5
14. बृ॰ 7.6-7
15. परा॰ 6.44
16. वृहस्पतिस्मृति 9.02
17. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग - 2, पृ॰ सं॰-856
18. भगवतगीता 1-42
19. भगवतगीता 1-43
20. भगवतगीता 1-44
21. अर्थशास्त्र 1.8.1-2
22. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण-5, वाचस्पति गोरेला, चौखम्भा प्रकाशन
23. मनुस्मृति 7.127
24. शुक्रनीतिसार 4.2.106